विषय	हिंदी
प्रश्नपत्र सं. एवं शीर्षक	**P4: नाटक और रंगमंच**
इकाई सं. एवं शीर्षक	**M7: नाटक के तत्व**
इकाई टैग	**HND_P4_M7**

निर्माता समूह	
प्रधान निरीक्षक	**प्रो. गिरीश्वर मिश्र** कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : misragirishwar@gmail.com
प्रश्नपत्र-संयोजक	**प्रो. रमेश गौतम** हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ईमेल: proframeshgautam@yahoo.com
इकाई-लेखक	**प्रो. सत्यकेतु** प्रोफेसर, स्कूल ऑफ लिबरल स्टडीज, अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली ईमेल : satyaketu@aud.ac.in
इकाई समीक्षक	**डॉ. आनंद वर्धन शर्मा** प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल: anandsharma_64@yahoo.co.in
भाषा संपादक	**डॉ. उषा शर्मा** पूर्व स.प्रा. हिंदी संत हिरदाराम कन्या महाविद्यालय, भोपाल- 462001 ईमेल : neeloo26@yahoo.com

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. नाटक का शास्त्रीय स्वरूप
4. नाटक की आधुनिक अवधारणा
   - 4.1 नाट्यालेख
   - 4.2 अभिनय
   - 4.3 प्रेक्षक
5. निष्कर्ष

1. पाठ का उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन द्वारा आप -

- नाटक की विशिष्टताओं से परिचित हो सकेंगे।
- नाटक के सामान्य लक्षण बता सकेंगे।

2. प्रस्तावना

रचनात्मक अभिव्यक्ति की हैसियत से नाटक का अपना विधान है। प्राचीन काल से नाटक की एक समृद्ध एवं गतिशील परंपरा रही है। इतिहास गवाह है कि समय के साथ-साथ बदलती जीवन-शैली से हमारे सृजनात्मक संस्कार और सरोकार अछूते न रह सके। अतः आज के नाटकों और सदियों पहले की नाट्य-रचना में बहुत फ़र्क नज़र आएगा। ऐसे में नाटक संबंधी चिंतन की भी काल-सापेक्षता स्वाभाविक है। इसी संदर्भ में नाटक के मूलभूत तत्वों को देखा जाना चाहिए। नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा प्राचीन युग से होती आई है। अलग-अलग नज़रिए से नाटक के प्रमुख तत्व निर्धारित किए जाते रहे। नाट्य-तत्वों के आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा ही नाटक का विधान समझा जा सकता है।

3. नाटक का शास्त्रीय स्वरूप

नाटक के आधारभूत तत्वों की ओर संकेत करता है, 'नाट्यशास्त्र' में संकलित भरत मुनि का यह कथन -

> "जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि।।"

ब्रहमा ने ऋग्वेद से 'पाठ्य', सामवेद से 'गीत', यजुर्वेद से 'अभिनय' और अथर्ववेद से 'रस' लेकर नाट्यवेद रचा। कहा जा सकता है कि भरत मुनि ने नाटक के भीतर चार तत्वों का संयोग देखा-पाठ्य, गीत, अभिनय और रस। अपने देश की इस प्राचीन नाट्य-परंपरा के समानांतर पष्चिम का प्राचीन नाट्य-चिंतन, नाटक को मूलतः छः तत्वों का सामंजस्य बताता है। तत्कालीन यूनान में प्रचलित नाट्य-रूप 'त्रायदी' के अरस्तू द्वारा गिनवाए गए प्रमुख तत्व हैं - कथानक, चरित्र-चित्रण, पदरचना, विचार तत्व, दृश्य-विधान और गीत। त्रासदी को वास्तविकता का कलात्मक अनुकरण मानने वाले अरस्तू ने 'कथानक', 'चरित्र चित्रण' और 'विचार तत्व' को अनुकरण का विषय कहा। 'दृश्य विधान' को अनुकरण का माध्यम बताया और 'पद रचना' एवं 'गीत' को अनुकरण की विधि। अरस्तू 'कथानक' को नाट्य-रचना के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। भरत मुनि की ही परंपरा में रचित 'दशरूपक' का भी यहाँ उल्लेख किया जाना चाहिए। इस ग्रंथ की रचना आचार्य धनंजय द्वारा दसवीं सदी ईसवीं में की गई। यहाँ धनंजय ने भरत मुनि की नाट्य-शास्त्रीय विवेचना और संस्कृत के शास्त्रीय नाट्य-सृजन को ध्यान में रखते हुए नाट्य-भेदों का विश्लेषण किया। रूपक अर्थात् नाटक के भेदों पर विचार करते हुए धनंजय लिखते हैं -"वस्तु नेता रस्तेषां भेदकः।" अर्थात् नाटक के भिन्न-भिन्न रूपों की बुनियाद हैं ये तीन तत्व -वस्तु, नेता और रस। वस्तुतः धनंजय के अनुसार इन तीनों के आधार पर ही किसी नाट्य-रूप की अन्य नाट्य-रूपों से भिन्नता चिह्नित की जा सकती है। वस्तु, नेता और रस को प्रमुख नाट्य-तत्वों के रूप में देखने की धारणा भी संस्कृत की नाट्य-शास्त्रीय परंपरा में प्रचलित रही।

गौरतलब है कि नाटक के स्वरूप पर विचार करते हुए भरत मुनि सर्वप्रथम 'पाठ्य' का उल्लेख करते हैं। दरअसल, नाटक अथवा किसी भी कथात्मक विधा का पाठ 'कथानक' और 'चरित्रचित्रण' के सामंजस्य से ही साकार होगा। कथा-विशेष में सक्रिय पात्रों (चरित्रों) की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा वस्तुस्थिति का प्रतिबिंब उभरता है। इसी संदर्भ को व्यंजित करने हेतु 'वस्तु' और 'नेता' शब्द भी प्रयोग किए गए। 'वस्तु' से तात्पर्य है - नाटक का कथ्य। नाटक के नायक अर्थात् केंद्रीय चरित्र को 'नेता' कहा गया। 'पद रचना' से अरस्तू का आशय वह भाषा है, जो कि नाटक के पाठ को ठोस रूप प्रदान करे। पाठ का निर्माण भाषा के बिना असंभव है। चाहे 'पद रचना' कहें या 'भाषा', नाटक के

पाठ में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। नाटक की भाषा का अधिकांश, पात्रों द्वारा बोले जाने वाले संवादों के रूप में ही प्रकट होता है। नाटक की कथा और कथा से जुड़े पात्रों के जीवंत प्रस्तुतीकरण में संवादों की प्रबल भूमिका दिखाई देगी।'त्रासदी' को अरस्तू ने गंभीर विषयों की अभिव्यक्ति का माध्यम बताया। इसलिए 'त्रायदी' के संदर्भ में 'विचार तत्व' पर बल दिया गया है। जिससे कि उसके अंतर्गत 'सत-असत्', 'पाप-पुण्य' आदि पर विचार किया जा सके। भरत मुनि और अरस्तू दोनों के हवाले से यह पता चलता है कि प्राचीन नाट्य-शास्त्रीय चिंतन में गीत/गायन को नाटक के संबंध में महत्त्व दिया जाता था।

भारतीय चिंतन की दृष्टि से नाट्य-रचना के संदर्भ में 'रस' का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि रस-निष्पत्ति संबंधी काव्य-शास्त्रीय अवधारणा की व्युत्पत्ति नाट्य-शास्त्र से हुई। भरत मुनि से लेकर अभिनव गुप्त और धनंजय तक ने नाटक के भीतर 'रस' की अखंड सत्ता स्वीकारी है। 'रस' को नाट्य-रचना का मुख्य लक्षण ही नहीं मूल प्रयोजन भी माना गया। रस-निष्पत्ति को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि कहते हैं- "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से संयोग द्वारा, सहृदय के हृदय में स्थित स्थायी भाव, रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। सरल शब्दों में यदि कहा जाए तो मनुष्य के मन में बसी भावनाएँ, अपने अनुकूल विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की सामग्री प्राप्त होने पर, रस की सृष्टि करेंगी। विभाव, अनुभाव और संचार भाव का संबंध नाट्य-कथा में उपस्थित पात्रों की दशाओं और चेष्टाओं से है। इनके संपर्क में आए मनोभाव हमें अनुभव विशेष की अनुभूति तक ले जाएँगे। सहृदय की इस रसानुभूति को प्रथम उद्देश्य के रूप में ग्रहण करते हुए, नाटक में 'रस' के अस्तित्व को विशेष महत्त्व दिया गया। 'रस' को भारतीय नाट्य-चिंतन की निजता का प्रस्थान बिंदु कहा जा सकता है।

भरत मुनि और अरस्तू, दोनों ने नाटक के संबंध में मंचीय क्रियाकलाप की आवश्यकता को भलीभाँति रेखांकित किया। भरत मुनि ने 'पाठ्य', 'गान' और 'रस' के समकक्ष 'अभिनय' को भी जगह दी। अभिनय, जीते-जागते मनुष्यों द्वारा रंगमंच पर नाटक की चाक्षुष प्रस्तुति है। कोई अतिश्योक्ति न होगी यदि, नाटक संबंधी अभिनेताओं के मंचीय क्रियाव्यापार को नाटक की शाब्दिक रचना का ध्येय कहा जाए। दृश्य-विधान पर विचार-विमर्श से अरस्तू, अभिनेताओं द्वारा किये जाने वाले 'त्रासदी' के मंचीय दृश्यांकन को सूचित करते हैं। अरस्तू ने 'त्रासदी' के अभिनय को अभिनेताओं द्वारा किया जाने वाला अनुकरण कहा। नाटक की मंच पर रची गई अभिनय-प्रस्तुति, निःसंदेह उसका एक सनातन तत्व है। प्राचीन नाट्य-शास्त्रीय चिंतन से लेकर आधुनिक नाट्य-दृष्टि तक, नाटक और अभिनय के अटूट संबंध की दुहाई देते प्रतीत होंगे।

4. नाटक की आधुनिक अवधारणा

सदियों से हो रही नाट्य-रचना की पुख्ता बुनियाद पर ही आधुनिक नाट्य-चिंतन विकसित हुआ है। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में होने वाले बदलावों के समानांतर नाट्य-सृजन और नाट्य-शास्त्र की परंपरा भी गतिशील रही। पुराने ज़माने में रचनात्मक-साहित्यिक अभिव्यक्ति की दो ही विधाएँ थीं -महाकाव्य और नाटक। लेकिन निरंतर बदलती दुनिया के संवेदनात्मक आग्रह कहानी, उपन्यास, निबंध, संस्मरण, रिपोर्ताज, सिनेमा आदि कई रचनात्मक विधाओं का आविष्कार कर चुके हैं। विभिन्न विधाओं के भीतर अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैलियाँ अस्तित्व में आईं।ऐसे में पहले से चले आ रहे कलात्मक विधानों का परिवर्तित होना स्वाभाविक है। आज कथानक या चरित्र-चित्रण को उस तरह नहीं देखा जाता, जैसे कि भरत मुनि अथवा अरस्तू ने व्याख्यायित किया। साथ ही यह प्रष्न भी नए सिरे उठा कि वे कौन से विशिष्ट तत्व हैं, जिनके आधार पर अन्य विधाओं से अलग नाटक की अपनी पहचान

निर्धारित की जा सके? कथानक, चरित्र-चित्रण या विचार का योगदान तो बहुत-सी विधाओं के सृजन में रहता है। प्राचीन युग में साहित्यिक सृजन को रसात्मक कहा गया है। यदि आज की शब्दावली में कहा जाए तो नाटकसमेत रचानत्मक संप्रेषण के अन्य सभी माध्यम भी मानवीय अनुभवों की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति ही कहे जाएँगे। कोई दो राय नहीं कि नाटक को देखने और समझने के प्रतिमान विगत युगों की तुलना में बहुत बदल चुके हैं।

दीर्घकालीन परंपरा द्वारा इंगित किए जाते रहे नाट्य-तत्वों के विषय में सिद्धनाथ कुमार लिखते हैं -"नाटक के तत्वों की अनिवार्य स्थिति में संदेह नहीं, पर अपने में उनका कोई महत्त्व नहीं; उनका महत्त्व नाटक के स्थापत्य में योगदान की दृष्टि से है कि उनका उपयोग नाटककार नाटक की रचना में किस प्रकार करता है। कथानक, चरित्र, संवाद आदि के समुचित प्रयोग से ही नाटक का स्थापत्य खड़ा होता है। नाटक के तत्व तो ईंट, पत्थर, सीमेंट आदि की तरह हैं जिनसे किसी भवन का निर्माण होता है - अपेक्षित उपयोग, आकार-प्रकार, सौंदर्य आदि की दृष्टि से विभिन्न पदार्थों का विशेष अनुपात में विशेष प्रकार से व्यवहार किया जाता है। इन पदार्थों के पारस्परिक संबंधों से ही स्थापत्य निर्मित होता है। नाटक के स्थापत्य के साथ भी यही बात है।" ये शब्द नाटक के सृजन से संबंधित कुछ खास पहलुओं की ओर संकेत करते हैं। नाटक में कथ्य, चरित्र या संवाद की स्थिति और प्रकृति अन्य माध्यमों से भिन्न रहेगी ही।

नाटक अभिव्यक्ति का एक दृश्य-श्रव्य माध्यम है। नाटककार इसे शब्दबद्ध करता है। लेकिन औरों के पढ़ने या औरों को पढ़कर सुनाने के लिए नहीं। नाटककार ने नाटक लिखा ताकि इसे अभिनय द्वारा मंच पर दर्शकों के समक्ष प्रदर्षित किया जा सके। अतः प्रदर्शन को नाटक की रचना-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण पड़ाव कहा जाएगा। नाटककार द्वारा रचे गए कथ्य, पात्र और पात्रों के संवादों में मंचन की प्रधान भूमिका नकारी नहीं जा सकती। वस्तुस्थिति और उसमें क्रियाशील पात्रों के सामंजस्य से नाट्य-लेखक को ऐसा दृश्य रचना पड़ेगा, जिसे मंच पर उपलब्ध सीमित समय और स्थान का उपयोग करते हुए अभिनेताओं द्वारा साकार कर पाना संभव हो। नाटककार के लिए यह चुनाव किसी चुनौती से कम नहीं कि कौन-सी घटनाएँ दृश्यों के रूप में मंच पर लाईं जाएँ और किन घटनाओं को सूच्य रखना ही उचित रहेगा। उसे यह सोचना पड़ेगा कि सूचित घटनाओं का वाहक सूत्रधार बने अथवा पात्रों के संवादों द्वारा उनका उल्लेख किया जाए, या फिर नेपथ्य से उन्हें कहलवाना उचित रहेगा।

रंगमंच की सान पर नाटक को कसने के लिए नाटककार विभिन्न कलात्मक युक्तियों से काम लेता है। किंतु प्रदर्शन की प्रत्यक्षता और तात्कालिकता को ध्यान में रखते हुए ही उसे प्रयोग करने होंगे। कहानी, उपन्यास या कविता जैसी शब्दाश्रित विधाओं के पाठकों की भाँति नाटक का प्रेक्षक, रचना के किसी मोड़ पर ठहर जाए और सोचने लगे, यह नहीं हो सकता। अतः दर्शकों तक तुरंत और तत्काल पहुँचने वाले रचनात्मक तत्वों की ही तलाश नाटककार को रहती है। पाठ की पठन-प्रकिया में कथानक, परिवेश और पात्रों के बिंब हमारी कल्पना रचने लगेगी। जबकि नाटकीयदृश्य और पात्र हमें ठोस रूप में अपनी आँखों के सामने दिखाई देंगे। नाटक की तरह सिनेमा भी एक दृश्य-श्रव्य माध्यम है। किंतु सिनेमाई अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रत्यक्ष और तात्कालिक नहीं। विकसित प्रौद्योगिकी की देन सिनेमा,शाब्दिक विधाओं की तरह स्थान और समय के बंधन से मुक्त है। बल्कि लेखक और पाठक के कल्पित शब्द-चित्रों को छोटे या बड़े पर्दे पर सिनेमा हू-ब-हू प्रस्तुत कर देगा। वहाँप्रदर्शन को दुरुस्त करने के असंख्य अवसर मिलते हैं और सर्वोत्तम प्रदर्शन को स्थाई रूप से रक्षित कर लिया जाता है। प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली नाटकों के असंख्य प्रदर्शन किए जाएँगे। किंतु, प्रदर्शन के दौरान किसी भी तरह की भूल-चूक को पुनरावृत्ति द्वारासुधार लेना असंभव है। लिखित अभिव्यक्ति के अंषों को बार-बार पढ़ा जा सकता है। एक फ़िल्म कई बार देख लीजिए। लेकिन

नाटक के प्रदर्शन का केवल स्मृति में प्रभाव रहता है। वह चाहे सालों-साल मन में जीवित रहे। पर प्रदर्शन का वही रूप तो पुनः प्राप्त न हो पाएगा।

नाट्य-चिंतन की इसी आधुनिक पृष्ठभूमि से नाटक के तत्वों पर विचार करते हुए नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं - "नाट्यकला सृजनात्मक अभिव्यक्ति का वह रूप है जिसमें मुख्यतः किसी संवादमूलक आलेख या कथा को (जिसे हम नाटक कहते हैं) अभिनेताओं द्वारा अन्य रंगषिल्पियों की सहायता से किसी मंच या रंग-स्थल पर दर्शक-समूह के सामने प्रस्तुत किया जाता है। यह प्रदर्शन कभी संवादमूलक होता है, कभी संगीतमूलक, कभी नृत्यमूलक, और कभी इन सब का, या एक-दो का, समन्वित रूप; कभी वह आधुनिकतम संयंत्रों से सुसज्जित रंगभवन में प्रस्तुत होता है, कभी खुले आकाश के नीचे; कभी केवल सामने एक ओर बैठे सौ-पचास या दो-चार सौ दर्शकों के समक्ष और कभी अभिनेताओं के चारों ओर हज़ारों दर्शकों के बीच। इन सभी स्थितियों में जो तत्व, चाहे विभिन्न अनुपातों और रूपों में ही सही, निरन्तर मौजूद रहते हैं, वे हैंः कोई कथामूलक आलेख, अभिनेता तथा निर्देशक सहित रंगषिल्पी, रंगमंच या रंगस्थल और दर्शक-वर्ग।" समकालीन परिदृश्य में यदि नाटक के स्वरूप का नए सिरे से वस्तुगत विवेचन किया जाए तो नाट्य-सृजन में मूलतः तीन तत्वों की रचनात्मक एवं निर्णायक भूमिका उजागर होगी। ये हैं -नाट्यालेख, अभिनय और प्रेक्षक अर्थात् दर्शक वर्ग।

4.1 नाट्यालेख

नाटककार द्वारा रचा गया नाट्यालेख नाट्य-रचना का पहला पड़ाव है। नाट्य-कथा, कथा के दृश्य, उनमें शामिल पात्र, पात्रों की भूमिका, उनका निजी व्यक्तित्व और पात्रों द्वारा बोले जाने वाले संवादों से नाट्यालेख मुकम्मल किया जाता है। शाब्दिक विधाओं के विस्तृत वर्णन का नाटक में अवकाश नहीं। नाटक एक प्रदर्शनकारी विधा है। प्रदर्शन के दौरान किसी घटना या पात्र की गतिविधि में नाटककार दखल न दे सकेगा। मंच पर कुछ घटनाएँ अवश्य ही सूच्य रहती हैं, किंतु नाट्यालेख का अधिकांश भाग दृष्यात्मक होना चाहिए। दृष्यों के भीतर गतिशील परिस्थिति और परिस्थिति में सक्रिय पात्रों से नाटक की संरचना मूर्त होती है। दृश्यों और पात्रों के आंतरिक तारतम्य की दिशा में नाटककार को विशेष रूप से सजग रहना होगा। नाटक के दृश्यों को पात्रों के संवाद और क्रियाकलाप ही गतिशील करते हैं। गत्यात्मक दृश्य-विधान से ही पात्रों की भूमिका विकसित हो पाएगी। दृश्यों और पात्रों के बीच यह संतुलन नाट्य-भाषा की ज़रूरी शर्त है।

बेशक, नाट्यालेख एक संवादमूलक ढाँचा है। लेकिन केवल बातचीत की शैली में रचे जाने से कोई कथा नाटक नहीं बन जाती। पात्रों के संवादों पर नाटक की कथा का अच्छा-खासा दारमदार रहता है। अतः आवश्यक है कि पात्रों द्वारा कहे गए शब्द, चरित्र-चित्रण के साथ-साथ वस्तुस्थिति की बारीकियों को भी उजागर करने में सक्षम हों। नाटककार का शब्द-विन्यास कहानीकार या कवि के शब्द-विन्यास से भिन्न रहेगा ही। वस्तुतः नाटक के शब्द विभिन्न 'आंगिक' एवं 'सात्विक' चेष्टाओं के संसर्ग में ही अपने लक्ष्य कोसाध सकेंगे।

नाट्याभिनय के संदर्भ में भरत मुनि 'वाचिक', 'आंगिक' और 'सात्विक' शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'वाचिक' का संबंध वाणी द्वारा उच्चरित शब्दों से है। शब्दों के साथ-साथ चलने वाली शारीरिक और हाव-भाव संबंधी क्रियाएँ, क्रमषः 'आंगिक' व 'सात्विक' कही जाएँगी। नाटक की भाषा में शब्द, शरीर और हाव-भाव का सुगठित और सघन सामंजस्य अत्यंत आवश्यक है। इसी के मध्य नज़र नाटक की काया में नृत्य, गीत, संगीत इत्यादि अन्य कला-रूपों का समावेश किया जाना चाहिए। तब ही नाट्यालेख के अभिनय से नाटकीयता का सृजन किया जा सकेगा।

4.2 अभिनय

नाट्यालेख के अभिनय से संयोग द्वारा नाटक का पूर्ण स्वरूप साकार होता है। अभिनय, नाट्यालेख का यांत्रिक अनुकरण नहीं, अपितु रचनात्मक प्रस्तुतीकरण है। नाट्यालेख में निहित कलात्मक संभावनाएँ अभिनय के माध्यम से ही फलीभूत की जाएँगी। रंगमंच पर नाटक का अभिनय नाट्य-रचना में रंगकर्मियों के सक्रिय हस्तक्षेप की दुहाई देता है। नाट्यालेख के आधार पर निर्देशक, अभिनेताओं और अन्य रंगकर्मियों के साझा प्रयत्न से निर्मित होता है - नाट्याभिनय का सशक्त तंत्र।

नाट्यालेख के रंगमंचीय व्याकरण की रचना, निर्देशक करता है। उसे, नाट्यालेख को अभिनय से जोड़ने वाली कड़ी के रूप में समझा जाना चाहिए। वह नाट्यालेख के साथ न्याय करने की भरसक कोशिश करेगा। मंच पर नाटक का अभिनय रचने की प्रक्रिया में एक सजग निर्देशक, नाट्यालेख के रंगमंचीय विधान को अधिक से अधिक आत्मसात करना चाहता है। नाट्यालेख और निर्देशक का द्वंद्वात्मक संबंध है। अतः कोई ताज्जुब नहीं अगर कि यह सृजनशील व्यक्तित्व, नाट्यालेख की सार्थकता में नए आयाम जोड़ दे। ऐसे असंख्य उल्लेखनीय वृतांत उद्धृत किए जा सकते हैं। भारतेंदु हरिष्चंद्र का बहुचर्चित और बहुमंचित नाटक है - 'अंधेर नगरी चैपट राजा'। नाटक में जन-विरोधी राजसत्ता पर किया गया दिल्लगी से भरपूर कटाक्ष, बड़ी सहजता से झकझोर जाता है। कालजयी नाट्य-निर्देशक ब.व. कारंत द्वारा 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के छात्रों की मदद सेसन् 1978 में किया गया 'अंधेर नगरी' का प्रदर्शन अविस्मरणीय सिद्ध हुआ। इस प्रदर्शन में निर्देशक ने समकालीनता के मुताबिक नाटक को नया निष्कर्ष दिया। 'अंधेर नगरी' के लचीले षिल्प-विधान में रचनात्मक प्रयोगों द्वारा अंतिम पड़ाव तक नाटक की मूलकथा कमोबेश निभाई गई। लेकिन राजा के फ़ाँसी चढ़ने के बाद नाटक खत्म नहीं होता बल्कि उसे आत्मघात हेतु विवश कर देने वाला गुरु खुद राजा बन जाता है। राजा के बाद गुरु को राज-गद्दी पर बिठाकर, निर्देशक ने दर्शाना चाहा है कि केवल शासक का चेहरा बदला, मगर शासन अमानवीय ही रहा।

नाटक से जुड़े ऐसे बहुत से प्रतिभाशाली रचनाकार रहे हैं, जिन्होंने नाटककार और निर्देशक दोनों की ही भूमिका निभाई। ऐसे भी उदाहरण हैं, जबकि नाट्यालेख पर नाटककार और निर्देशक ने मिलकर काम किया। इस संदर्भ में मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की रचना प्रक्रिया उल्लेखनीय है। रंगमंच पर ज़्यादा से ज़्यादा कसा हुआ कथ्य प्रस्तुत करने की ललक, राकेश से नाटक को बार-बार दुरुस्त करवाती है। 1963 में 'लहरों के राजहंस' शीर्षक से नाट्यालेख प्रकाषित हो जाने और उसकी मंचीय प्रस्तुतियों के बाद भी राकेश ने नाटक को पूरी तरह से बदल डाला। 1968 में प्रकाषित नाटक के संषोधित

संस्करण की भूमिका में राकेश बताते हैं कि कथ्य का मंचन उनके मंतव्य को पूर्णतः दर्षा दे, इसके लिएउन्होंने नाटक के प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक संवाद का रिहर्सल बार-बार देखा। श्यामानंद जालान जो कि रंगमंच पर नाटक का निर्देशन करने के साथ-साथ नाटक में 'नन्द' की प्रमुख भूमिका निभा रहे थे, उनके और राकेश के बीच चर्चाओं का लंबा दौर चला।

नाटकीयता और अपने कलात्मक व्यक्तित्व के तारतम्य द्वारा अभिनेता, रंगमंच पर नाट्य-प्रदर्शन की रचनात्मक पद्धति को क्रियान्वित करेंगे। नाट्यालेख और उसकी रंगमंचीय परिकल्पना को अपने अभिनय के ज़रिए दर्शकों तक ले जाने वाले इन कलाकर्मियों का नाटक की अभिव्यक्ति में गुणात्मक महत्त्व है। नाटक की रचनात्मक चुनौतियों से

लोहा लेते अभिनेताओं के अभिनय में दृश्य और पात्रों को अधिक समृद्ध करने की संभावना भी रहेगी। भरत मुनि द्वारा बताई गई नाटकों की विशेषताओं में से एक है -

"न तत्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।।"

तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई भी रचनात्मक विधान नहीं जिसे नाटक के भीतर सम्मिलित न किया जा सके। लेखन, निर्देशन और अभिनय के अतिरिक्त संगीत, नृत्य, चित्रकला, पात्रों की वेश-भूषा, प्रकाश, ध्वनि, मंच-सज्जा इत्यादि विभिन्न कलाओं के समुचित प्रयोग द्वारा ही नाटक की रचनात्मक पूर्ति संभव है। अतः नाटककार, निर्देशक और अभिनेता की तरह नाट्याभिनय की प्रभावशाली रचना में अन्य रंगकर्मियों एवं विशेषज्ञों का महत्त्व भी समझा जाना चाहिए।

4.3 प्रेक्षक

प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक विधा होने के नाते नाटक के रचना-कर्म में प्रेक्षक अर्थात् दर्शक का सक्रिय योगदान रहता है। नाटक आमतौर पर दर्शकों को ध्यान में रखकर ही रचे जाते हैं। एक हद तक साक्षर और षिक्षित व्यक्ति ही साहित्यिक विधाओं के आस्वाद प्राप्त कर सकेगा। नृत्य की मुद्राएँ, संगीत में राग-रागिनी या चित्रकला में रंग-रेखाओं का सौंदर्य, अधिक सूक्ष्मबोध की माँग करते हैं। वहीं नाटक, विद्वान-बुद्धिजीवी से लेकर निरक्षर-अषिक्षित व्यक्ति तक के रसास्वाद का एक जीवंत माध्यम है। प्राचीन युग से लेकर आधुनिक युग तक विभिन्न सभ्यताओं व संस्कृतियों में नाट्य-विधा पर जितने भी उल्लेखनीय अध्ययन हुए, लगभग सभी ने नाटक को जन-साधारण की कला घोषित किया। नाटक अपने आप में इस प्रकार की प्रदर्शनमूलक अवधारणा है, जिसे अति सामान्य व्यक्ति से लेकर सहृदय प्रेक्षक तक सभी ग्रहण कर, उसकी व्याख्या कर ले जाएँ। नाटक के दृश्यत्व, पात्र, पात्रों के संवाद, उनके क्रियाकलाप और समस्त रंगकर्म का लक्ष्य अंततः प्रेक्षक अर्थात् दर्शक ही कहा जाएगा। नाटककार, निर्देशक और अभिनेता प्रेक्षकों के बिना अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकते। चित्र, मूर्ति, नृत्य, संगीत, कथा या कविता रचने वाला कोई व्यक्ति यदि अपनी रचनात्मकता को स्वांतः सुखाय कहे, तो यह एक हद तक समझ में आता है। मगर नाटक और रंगकर्म के संबंध में केवल अपनी संतुष्टि का हवाला देकर बचा नहीं जा सकता।

नाटक देखने आए दर्शकों की संख्या, उनका उत्साह और प्रदर्शन के दौरान उनके मुख पर आते-जाते भाव तक अभिनेताओं के मनोबल समेत समग्र नाट्य-रचना को प्रभावित करते हैं। इसी संदर्भ में हिंदी-रंगमंच के जानेमाने कलाकार महेश आनंद का एक संस्मरण देखा जा सकता है। 'आगारा बाज़ारः कुछ यादें' शीर्षक के अंतर्गत वे अपने उन दिनों को याद करतें हैं जब उन्होंने हबीब तनवीर के निर्देशन में उन्हीं के द्वारा रचित 'आगरा बाज़ार' में काम किया। आनंद लिखते हैं - "एक प्रदर्शन में लगभग तीस-पैंतीस दर्शक आए, जिनमें से पन्द्रह ने टिकट खरीदे थे और शेष मुफ़्त में देखने वाले थे। बस हबीब साहब उखड़ गए। उन्होंने एकाध घंटे के बाद विंग्स में आकर कहा कि इसमें से आधे घंटे का नाटक काट दो...इसी प्रदर्शन से जाना कि दर्शकों के बिना कलाकार कितना बेजान हो जाता है।" यह भी तथ्य है कि किसी भी नाटक को कम दर्शकों के बीच देखने से वह अनुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती, जो प्रेक्षकों के विशाल समूह के बीच मिलेगी। अतः कोई दो राय नहीं कि प्रेक्षक नाट्य-रचना का अनिवार्य अंग है।

निष्कर्ष

नाटक की प्रदर्शनधर्मिता के आधार पर यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि नाट्यालेख, अभिनय और प्रेक्षक, नाटक के ये तीन ऐसे तत्व हैं जो अन्य विधाओं के समक्ष नाटक का वैशिष्ट्य उजागर करते हैं। प्राचीन नाट्य-शास्त्रीय परंपरा से इनका महत्त्व स्वीकारा गया। किंतु नाट्य-स्वरूप के संदर्भ में इनकी ठोस पहचान आधुनिक नाट्य-चिंतन की देन है।